

गाँव जैसी खुशबू शहर में कहाँ



यह सच है कि अब शहर और गाँव के रहन-सहन में अंतर लगभग खत्म होता जा रहा है। गाँवों की पहचान में दरवाजे पर गाय, भैंस, बकरी आदि मुख्य होते थे, वहीं पुआल के टाल (पहाड़नुमा), लकड़ी के ढेर, बैलगाड़ी और भी विशेष वस्तुएं जो खेतिहर परिवार की पहचान बनाते हों। वहां भी परिवर्तन हुआ। फिर भी गाँव आखिर गाँव है। शहरी जीवन की आपाधापी से भाग कर लोग परिवर्तन के लिए गाँव भागते हैं। गाँव से शहर जाने का आकर्षण तो है ही। समय के मुताबिक मनुष्य को परिवर्तन चाहिए। राजभवन से पूरी तैयारी के साथ सांगे तालुका के आदिवासी गाँव वाडेम में जाना आनंद की अनुभूति दे रहा था। बड़ी उत्सुकता थी। गेस्ट हाउस से जंगल की तरफ काली सड़क के दोनों ओर फलदार वृक्षों के घने जंगल थे। नारियल और काजू के वृक्षों की बहुतायत। बहुत दूर-दूर पर एक मकान। बीच-बीच में कुछ मकान वीरान लग रहे थे। उनकी खपड़े (टाइल) वाली छतों पर घास-फूस और छोटे-छोटे वृक्ष उग आए थे। घर-विहीन मकानों का यही हथ्र होता है। कहा जाता है- 'मनुष्य ही लक्ष्मी है।' आगे बढ़ते हुए दूर-दूर पर कुछ मकान 'घर' की श्रेणी में दिखने लगे। लिपे-पुते मकान। ऐसे मनभावन घरों के रूप-रंग निरखते हम आगे बढ़ रहे थे।

मन में विचार आया कि जब सड़कें इतनी स्वस्थ और सुगम हैं, फिर ऐसे क्षेत्र को अकिसित कैसे कहें! दरअसल जहां सड़कें पहुंचीं, वहां विकास के द्वार भी खुले। एक स्थान पर गाड़ी रुकी। सड़क किनारे दो नौजवान, ढोल-नगाड़ों पर अपनी पूरी शक्ति लगा कर थाप दे रहे थे। हमारा स्वागत था। हमारे साथ आए गोवा विधानसभा में विपक्ष के नेता चंद्रकांत (बाबू) कावलेकर ने मुझसे गाड़ी से उतरने का आग्रह किया। नीचे पांव रखने से पहले मेरी निगाह गोबर से लिपे दरवाजे पर पड़ी। बिहार के अपने गाँव का स्मरण हो आया। किसी भी पर्व-त्योहार के अवसर पर गोबर से आंगन-दरवाजा लीपने का रिवाज रहा है। बेटे के ससुराल और बहू के मायके से आने के समय भी उनके स्वागत की तैयारियों में आंगन-घर गोबर से लीपने की परंपरा है। अब गाँव में भी जानवर हमारे परिवार के हिस्से नहीं। इसलिए गोबर मिलता नहीं। वहीं नए डिजाइन के मकानों और फ्लैटों से आंगन भी गायब है।

पहले से तय कार्यक्रम के मुताबिक उस घर के अंदर जाकर साज-सामान का मुआयना करना था। एक घर के बड़े कमरे में प्रवेश किया। एक भी कुर्सी, पलंग, खाट या तखत नहीं था। सूचना मिली कि ऐसा एक बड़ा कमरा सभी मकान में होता है, जहां गाँव के लोग किसी पूजा-पाठ, शादी-ब्याह या गमी के समय समूह में बैठते हैं और दुख-सुख बांटते हैं। आगे बढ़ने पर एक कमरे के कोने में लकड़ी का चूल्हा दिखा। उस कमरे में नजर घुमाकर देखा, चूल्हे के सिवा कोई चिह्न या उपकरण नहीं था, जो उस कमरे को चौका-घर या रसोईघर कहने के लिए बाध्य करे। तीसरे कमरे के कोने में पलंगनुमा दो खाटें थीं। आस-पड़ोस की

दो-चार अंधेड़ महिलाएं मुझे घेरकर चल रही थीं। उन्होंने घुटनों तक कपड़े पहने थे। कमर से ऊपर कंधे पर रखा आंचल भी। हम घर से बाहर निकलने लगे। द्वार पर तीन-चार स्थानीय महिलाओं से घिर गए। एक ने मेरा हाथ पकड़ने के लिए हिचकचाते हुए हाथ बढ़ाया। मैंने उसकी तलहथियां पकड़ कर हंसते हुए कहा- 'क्या दोस्ती जम गई?' मैंने अपना कथन दो-तीन बार दोहराया। वह हंस रही थी। मेरी भाषा नहीं समझी। मैंने उसके मन के भाव को समझ लिया। उसका सख्त स्पर्श बहुत कुछ कह रहा था। पांच सौ वर्ष पुराने ढांचे, उतने ही पुराने फर्नीचर से भरे गोवा राजभवन और सामान-विहीन आदिवासी घर की दूरियां मिट गई थीं।

दो भारतीय महिलाएं अपनी मानवीय संवेदनाओं से लबालब भरा मौन बहिनापा भाव प्रकट कर रही थीं। अविकसित और विकसित के बीच खिंची नीची-ऊंची, छोटी-बड़ी रेखाएं मिट रही थीं। उस घर का चौखट पार कर मेरे बाहर निकलने का आग्रह हो रहा था। एक नई उम्र की महिला आंगन की ओर से भीड़ को चीरती मेरे पास पहुंची। शायद वह भी मेरा हाथ पकड़ना चाहती थी। मेरे पास चल रही वहां की पंच महिला माया ने उसके गोबर से सने हाथ देखे। आवाज लगाई- 'टीशू पेपर?' फिर उसने अपने थैले में से टीशू पेपर निकाले और मेरी ओर देख कर कहा- 'इनके पास कहां होगा टीशू पेपर?' अभी गोबर और टीशू पेपर का संग-साथ नहीं बना है। माया ने टीशू पेपर उस गोबर सने हाथों की ओर बढ़ा दिए थे, जिसे पकड़ने के पहले ही उस आदिवासी महिला ने झट अपने आंचल से हाथ का गोबर साफ कर लिया। मेरे हाथ में जब उसके हाथ आए तो बीच में टीशू पेपर ही था। यानी दोनों ओर से स्पर्श हाथों के नहीं, टीशू पेपर के हुए। याद तो पहली महिला के हाथों का स्पर्श ही रहा। राजभवन में लौट कर भी जिसकी पकड़ की स्मृति और अनुभूति भुला नहीं पा रही हूं। दरअसल, उस घने जंगल में मेरा प्रवेश भी उसी छुअन की खोज यात्रा थी।

(लेखिका गोआ की राज्यपाल हैं)

साभार- जनसत्ता से